सामाजिक न्याय के लक्ष्यों की उपलब्धि में न्यायिक सक्रियता की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन

डॉ0 बीना राय
असि0 प्रोफे0, राजनीतिविज्ञान विभाग
आर0जी0 (पी0जी0) कॉलिज, मेरठ
Email: bina.0280@gmail.com

कु0 रेनू
शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग)
आर0जी0 (पी0जी0) कॉलिज, मेरठ

सारांश

सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत सामान्य हित के मानकों से संबंधित सब कुछ आ जाता है। यह न केवल विधि के समक्ष समानता के सिद्धांत का पालन करने और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से संबंधित है। जैसा हम पश्चिमी देशों में देखते हैं बल्कि इसका संबंध उन कुत्सित सामाजिक कुरीतियों जैसे–दरिद्रता, बीमारी, बेकारी और भुखमरी आदि को दूर करने से भी है जिनकी तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर गहरी चोट पड़ी है। सामाजिक न्याय से आशय एक ऐसे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना से है जिसमें सामाजिक–आर्थिक विषमताएँ न्यूनतम हो, समाज 'समावेशी' हो और संसाधनों का वितरण सर्वमान्य स्वीकृति के आधार पर हो सामाजिक न्याय व्यक्ति के गरिमापूर्ण जीवन को सुनिश्चित करने, असुरक्षित व हाशिये पर स्थित सामाजिक समूहों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने एवं 'समावेशी समाज' की स्थापना हेतु अति आवश्यक है। सामाजिक न्याय मुख्यतः विधिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सशक्तिकरण का मार्ग प्रशस्त करता है और समाज में हाशिये पर स्थित समूह (ट्रांसजेंडर सेक्स वर्कर, चलवासी जनजातियाँ) समाज के पद–दलित समूह, असुरक्षित समूह (अनुसूचित जातियाँ/जनजाति, निःशक्त) महिलाओं, विकलांगों, अनाथों एवं वृद्धों आदि को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने में मदद करता है।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 25.07.2019
Approved: 23.09.2019

डॉ0 बीना राय, कु0 रेनू
सामाजिक न्याय के लक्ष्यों की उपलब्धि में न्यायिक सक्रियता की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन

RJPP 2019,
Vol. XVII, No. 2,
pp.25-33
Article No. 5

***Online available at** : http:// rjpp.anubooks.com/*

डॉ0 बीना राय, कु0 रेनू

प्रस्तावना

स्वप्राणरक्षणे चैव स्वस्वत्वरक्षणे तथा।तदर्थ सम्यगाजीवे सर्वे स्पुरीधकारिण।।

भावार्थ : समस्त मानव को जीवन सम्पत्ति एवं रहन–सहन के स्तर का अधिकार प्राप्त है, कल्याण के लिए स्वयं सरकार बनाने एवं कल्याणकारी सरकार द्वारा समस्त के कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन का अधिकार है। कल्याणकारी सरकार द्वारा अत्यनत अल्प मात्रा में भोजन वस्त्र आवास औशधि एवं शिक्षा का प्रावधान है।[1]

पाश्चात्य विचारधारा के प्रतिनिधि विचारक **सेफालस के मतानुसार–**सदा सच बोलना तथा कर्ज की अदायगी ही न्याय है।[2] **सोफिस्टो ने** जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त में न्याय को परिभाषित किया।[3] **थ्रेसीमेक्स के कथानुसार–**''न्याय शक्तिशाली का हित है।''[4] **प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक–**''दि रिपब्लिक'' में अपने कर्तव्यों को करना तथा दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप नहीं करना, न्याय माना।''[5] राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने न्याय की समस्या पर मुख्यतया इस दृष्टि से विचार किया कि व्यक्तियों के आपसी लेन–देन में या राज्य के पदो के वितरण में किन–किन नियमों का पालन होना चाहिए।[6] **डेविड ह्यूम के मतानुसार–**''न्याय का अर्थ नियमों का पालन मात्र है।''[7] **बेन्थम** ''अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही न्याय मानता है।''[8] **जॉन स्टूवर्ट गिल के अनुसार–**''न्याय सामाजिक उपयोगिकता का महत्वपूर्ण पक्ष है।[8] **रॉल्स ने अपनी पुस्तक–**''न्याय का सिद्धान्त'' में अन्वेषणात्मक युक्ति का प्रयोग किया है। इसके अन्तर्गत उसने यह कल्पना की है कि यदि व्यक्तियों को उनकी वर्तमान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से पृथक कर दिया जाए और समाज में प्रचलित भेदभाव के ज्ञान से भी पेर हटा दिया जाए तो वे भावी समाज में अपने हितों की अधिकतम वृद्धि के लिए सामाजिक जीवन के नियमों, सिद्धान्तों और संस्थाओं का पुननिर्माण किस प्रकार करेगें। इस काल्पनिक स्थिति में लोक परस्पर सहमति से जो नियम स्वीकार करेंगे, उन्हें विष्वव्यापी आधार पर न्याय के नियम मान सकते हैं।[9]

न्याय का **समुदायवादी दृष्टिकोण** में ''सामाजिक वस्तुओं के ऐसे वितरण का समर्थन करता है, जिसमें समुदाय के प्रति व्यक्ति की प्रतिबद्धता पर बल दिया जाता है।'' न्याय की इस अवधारणा के अनुसार **वाल्जर** ने न्यायपूर्ण व्यवस्था का जो चित्र खीचा है, वह **विकेन्द्रीकरण लोकतन्त्रीय समाजवाद** का प्रतिरूप होगा। इसमें एक **सुदृढ़ कल्याणकारी राज्य** की व्यवस्था होगी। यह बात महत्वपूर्ण है कि न्याय की चर्चा केवल ऐसे समाज में प्रासंगिक होगी जिसमें वस्तुओं, सेवाओं एवं अवसरों इत्यादि का अभाव हो और जहाँ प्रचलित कानूनों, अधिकारों, सम्पत्ति संबंधों और नैतिक मान्यताओं की आलोचना करने और उनमें उपयुक्त परिवर्तनों की माँग करने की स्वतन्त्रता और गुंजाइश हो।[10] न्याय के प्रयोग क्षेत्र पर विचार करते समय हम समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को इस दृष्टि से परखने लगते है कि वह न्याय के अनुरूप है या नहीं? चूंकि हम सुविधा की दृष्टि से सामाजिक जीवन के तीन मुख्य क्षेत्रों की पहचान करते हैं। इसलिए न्याय की बात करते समय भी हम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की चर्चा करते हैं, परन्तु वास्तव में ये तीनों एक ही न्याय सिद्धांत के प्रयोग क्षेत्र है, ये तीनों एक–दूसरे के पूरक हैं, इसलिए

एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। विस्तृत अर्थ में **''सामाजिक न्याय''** शब्दावली से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तीनों तरह के न्याय का संकेत मिलता है।[11] सीमित अर्थ में–''सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में सब मनुष्यों की गरिमा स्वीकार की जाए, स्त्री–पुरूष, गोरे–काले या जाति धर्म इत्यादि के आधार पर किसी व्यक्ति को बड़ा–छोटा या ऊँचा–नीचा न माना जाए, शिक्षा एवं उन्नति के अवसर सबको समान रूप से सुलभ हो और सभी को मनुष्य होने के नाते मिल–जुलकर साहित्य कला संस्कृति और तकनीकी साधनों का प्रयोग कर सके। अतः निर्बल व निर्धन को विशेष सहायता और संरक्षण प्राप्त हो सके।

आर्थिक न्याय का अर्थ है कि उत्पादन की प्रक्रिया में कोई व्यक्ति दूसरों के जीवन को नियन्त्रित करने और उनसे मनमानी शर्तों पर काम कराने की शक्ति प्राप्त न कर सके, बल्कि सब लोगों को अपनी–अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार उचित लाभ या पुरस्कार प्राप्त करने का अवसर मिले, बाजार की स्थिति में कोई व्यक्ति मनमानी शर्तों पर दूसरों को वस्तुएँ और सेवाएँ प्रदान करने की शक्ति प्राप्त न कर ले, बल्कि सबको अपनी–अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार उचित शर्तों पर अपेक्षित वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो सके।[12]

राजनीतिक न्याय का अर्थ ''सार्वजनिक नीतियों निर्धारित करने की प्रक्रिया में सबको प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर और अधिकार प्राप्त हो'', सत्ता प्राप्त करने का मार्ग सबसे लिए खुला हो, सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग सबके हित को ध्यान में रखकर किया जाए सब व्यक्तियों को अपने–अपने हितों की सिद्धी के लिए अपने विचारों को व्यक्त करने, उपयुक्त संगठन बनाने सभाए करने दूसरों को समझाने–बुझाने इत्यादि की पूरी स्वतन्त्रता हो और शान्ति व्यवस्था तथा नैतिक भावना को कोई क्षति पहुँचाए बिना भिन्न–भिन्न और विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता बरती जाए।[13]

सामाजिक न्याय का मूलमन्त्र यह है कि संगठित सामाजिक जीवन से जो भी लाभ प्राप्त होते हैं, वे इने–गिने लोगों के हाथो में सिमटकर न रह जाए बल्कि सर्वसाधारण को विशेषतः निर्बल और निर्धन वर्गों को समुचित हिस्सा मिले ताकि वे सामान्यतः सुख सम्मानित और निश्चित जीवन जी सके। साधारणतया हमारे संविधान में सामाजिक न्याय से अभिप्राय समाज में किसी प्रकार का भेद–भाव न होना और समाज में सभी वर्गों तथा व्यक्तियों को अपने विकास और उन्नति के समुचित अवसर प्राप्त कराना सामाजिक न्याय की माँग है। पूर्व प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू ने एक बार ठीक ही कहा था कि–''लाखों करोड़ो लोगों के लिए मार्क्सवाद के प्रति आकर्षण स्रोत उसका वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत सामाजिक न्याय के प्रति उसकी तत्परता है।[14] **''संविधान की उद्देशिका में न्याय के आदर्श की वही भूमिका है, जो मन्दिर में मंगल कलश की होती है।''** संविधान में यह भली–भांति समझ लिया गया है कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए समानता की ही आवश्यकता नहीं है। बल्कि न्याय की भी आवश्यकता है क्योंकि न्याय के बिना समानता तथा स्वतन्त्रता के आदर्श बिल्कुल निःसार हो जाते हैं।[15] भारतीय संविधान के **भाग–4 के अन्तर्गत अनुच्छेद–38** में न्याय के आदर्श का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। **अनुच्छेद–38 के अनुसार–**''राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करें, भरसक कार्य साधन के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। इस अनुच्छेद के अनुसार–**''संविधान में न्याय के आदर्श को लोककल्याण के आदर्श से अभिन्न माना गया है।''**[16] भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के आदर्श को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है, **संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकार और भाग–4 में नीति निर्देशक तत्व द्वारा सामाजिक न्याय की सिद्धि के विविध उपायों का व्यापक उल्लेख किया गया है।**

डा0 बी0आर0 अम्बेडकर ने कहा था– ''हमारा संविधान केवल एक यन्त्र है, जिसका राज्य के विभिन्न अंगों के कार्य संचालन को व्यवस्थित रखना है।''[17] मौलिक अधिकार के अनुच्छेद–15 में धर्म, मूल जाति, लिंग या जन्म सीान के आधार पर विभेद का प्रतिशेद अनुच्छेद–15 में किया गया है। इसे चार भागों में विभक्त किया गया है।[18]

प्रथम व्यवस्था के अनुसार–''राज्य केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर नागरिकों के साथ विभेद नहीं कर सकेगा। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य अन्य आधारों पर या युक्ति–युक्त कारणों पर नागरिकों में विभेद कर सकता है।[19] इसके सम्बन्ध में न्यायालय के समक्ष विचारण हेतु समय–समय पर कई मामले आये–**काठी रनिग बनाम स्टेट ऑफ सोराष्ट्र**[20] का मामलों में स्पष्ट रूप से सामाजिक न्याय को परिभाषित किया गया है। **श्रीमति ए0 क्रेकनले बनाम स्टेट का मामला**[21]**, पेरून चिथिरानर बनाम स्टेट ऑफ तमिलनाडु और अन्य का मामला**[22]**, प्रताप सिंह बनाम स्टेट ऑफ राजस्थान का मामला**[23] इत्यादि सामाजिक सामानता से जुड़े थे।

द्वितीय व्यवस्था के अनुसार–''सार्वजनिक स्थानों आदि में प्रवेश के लिए धर्म, मूलवंश जाति, लिंग या जन्मस्थान पर भेदभाव नहीं किया जा सकेगा। इससे सम्बन्धित मामले **लक्ष्मीधर मिश्रा बनाम रंगलाल**[24] और **बम्बई बनाम एजुकेशन सोसाइटी**[25] इत्यादि की सुनवाई सार्वजनिक स्थानों पर भेदभाव का निशेध करती है।

तृतीय व्यवस्था के अनुसार–''यह एक अपवादात्मक खण्ड है। अब तक हमने यह देखा कि धर्म, जाति, लिंग, मूलवंश या जन्मस्थान के आधार किसी नागरिक के साथ विभेद नहीं किय जा सकता है। लेकिन इस व्यवस्था के अनुसार–स्त्रियाँ या बालको को इससे मुक्त है अर्थात स्त्रियों एवं बालकों के विकास उत्थान एवं कल्याण के लिए विभेद किया जा सकता है।[26] भारतीय न्यायालय में इससे संबंधित समय–समय पर कई मामले सामने आये। जिनमें न्यायपालिका स्त्रियों एवं बालकों के हितों के पक्ष में विशेष प्रावधान कर सकती है। **डा0 राम कृष्णा बालेठिया बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया का मामला**[27]**,** इस मामले में अनुसूचित जाति, जनजाति के लिए अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 की संवैधानिकता को चुनौती दी गई। **शाहदाद बनाम मोहम्मद अब्दुल्ला का मामला**[28]**, गिरधर गोपाल बनाम स्टेट ऑफ थामस ग्राउण्ट का मामला**[29] इत्यादि मुख्य वाद सम्बन्धित है।

चतुर्थ व्यवस्था के अनुसार–''इसका मुख्य लक्ष्य सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग अनुसूचित जाति, जनजाति के लोगों के हितों की रक्षा करना है। समाज का एक बहुत बड़ा समुदाय जिसे हम निर्धन अथवा कमजोर वर्ग का समुदाय कह सकते हैं। आरम्भ से ही जीवन के हर क्षेत्र में पिछड़ा रहा है अपितु अपेक्षित भी निर्बल–सबल के निर्धन धनी के अवर्ण–सवर्ण धर्मी–अधर्मी शोषण के अब भी शिकार रहे हैं। इसलिए हम उच्चतम न्यायालय के समक्ष **स्टेट ऑफ मद्रास बनाम चम्पाकम दो राइजन का मामला**[30] यह मामला ऐतिहासिक मामला है। जिसके कारण संविधान में प्रथम संशोधन करना पड़ा और **अनुच्छेद–15(4)** को जोड़ा गया। **जय श्री बनाम ऑफ केवल का मामला**[31], उच्चतम न्यायालय ने कहा कि राज्य का एक दायित्व है कि वह समाज के पिछड़े वर्गों का उत्थान एवं कल्याण करने का हर सम्भव प्रयास करें। नीति निदेशक तत्वों के अनुच्छेद–41 में संविधान ने नागरिको का कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा व लोक सहायता प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार किया है।[33] **अनुच्छेद–42** में संविधान ने राज्यों को यह जिम्मेदारी सौपी है कि वह काम की यथोचित व मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूती सहायता के लिए उपबन्ध करेगा।[34] संविधान के **अनुच्छेद–43** के अनुसार राज्य कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देगा तथा श्रमिकों के लिए जीवन निर्वाह एवं मजदूरी का प्रबन्ध करेगा।[35] यह अनुच्देद गांधीवाद विचारधारा से प्रेरित था। **अनुच्छेद–44** के अनुसार राज्य नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता लागू करेगा एवं **अनुच्छेद–45** के बालको के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध भी किया गया है।[36] **86वें संविधान संशोधन 2002** द्वारा संविधान के **अनुच्छेद–45** में संशोधन किया गया है जिसके अनुसार 6 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए स्वास्थ्य व शिक्षा का प्रावधान करना राज्य का कर्तव्य होगा।[37] **अनुच्छेद–46** के अनुसार अनुसूचित जातियों आदिम जातियों तथा दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी योजना का प्रावधान किया गया है।[38] **अनुच्छेद–47** के अनुसार आहार और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करने का दायित्व राज्य को दिया गया है।[39] इस प्रकार भारत में सामाजिक न्याय का स्वर्णकाल लाने के लिए उपयुक्त प्रावधान का उल्लेख किया गया। अनुच्देद–24 द्वारा कारखानों आदि में बच्चों से काम करना वर्जित किया गया है, अनुच्छेद–29 व 30 में शिक्षा व संस्कृति संबंधी अधिकार भी सामाजिक न्याय के सोपान हैं। **अनुच्छेद–29 के अनुसार–**''नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार है तथा **अनुच्छेद–30** के अनुसार ''धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रूचि की शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा।[40] सामाजिक न्याय प्राप्त करने में उपयुक्त अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है जो **अनुच्छेद–32** में संवैधानिक उपचारों के अधिकार में निहित है जिसे **बाबा साहब डा0 अम्बेडकर ने संविधान की प्रस्तावना को हृदय तथा आत्मा कहा है।** भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश गजेन्द्र गडकर ने इसे ''भारतीय संविधान का प्रमुख लक्ष्य और संविधान द्वारा स्थापित प्रजातांत्रिक भवन की आधारशिला कहा है।[41]

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन या संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय

न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय है–न्यायालय द्वारा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यों की वैधता की जांच करना अर्थात न्यायालय द्वारा कानूनों तथा प्रशासनिक नीतियों की संवैधानिकता की जांच तथा ऐसे कानूनों एवं नीतियों को असंवैधानिक घोशित करना जो संविधान के किसी भी अनुच्छेद का अतिक्रमण करती है। **कारविन के शब्दों में–**''न्यायिक पुर्नावलोकन का अर्थ न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हें अपने न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में तथा कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध और व्यर्थ समझे।''[42] **न्यायमूर्ति मार्शल ने सन् 1803 में मार्बरी बनाम मेडीसन के मामले में** 'ज्यूडिषियल रिव्यू' की व्याख्या करते हुए कहा था कि न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेष विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक कार्यों का निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या यह एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किये गये हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों से बढ़कर कार्य किया है या नहीं। वस्तुतः संविधान की कोई धारा स्पष्टतः न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका या प्रशासनिक कार्यों का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है कि क्या यह एक लिखित संविधान द्वारा निषिद्ध किये गये हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों से बढ़कर कार्य किया है या नहीं। वस्तुतः संविधान की कोई धारा स्पष्टतः न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार नहीं देती है पर संविधान के अनुच्छेद–13, 32, 131, 132 एवं 246 में यह अधिकार अन्तर्निहित है।[43]

इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन जहाँ विधायिका के मनमाने कानून निर्माण पर रोक लगाता है, वहीं दूसरी ओर न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका को कर्तव्य पालन की दिशा में प्रयत्न करने अथवा मनमाना आचरण करने से रोकने का साधन है। न्यायिक सक्रियता को उसी देश में अपनाया जा सकता है, जहाँ न्यायिक पुनर्विलोकन की स्थिति पहले से विद्यमान है। इस प्रकार न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का विस्तार है।[44] **न्यायिक पुनर्विलोकन या न्यायिक सक्रियता की आलोचना–**यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यता सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक ही किया है लेकिन अभी हाल ही के वर्षों में विशेषतया 1967 में गोलकवाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय से लेकर 1973 तक के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी गयी है। जिन्होंने इसे आलोचना का पात्र बना दिया है, इस प्रकार की आलोचना है, जिन्होंने इसे आलोचना का पात्र बना दिया है। इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख आधार इस प्रकार है–

एक जनकल्याणकारी राज्य में न्यायपालिका से यह आशा की जाती है कि वह राज्य को जनकल्याण की दिशा में आगे बढ़ने में सहायक होगी, लेकिन भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कुछ निणर्यों के आधार पर इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनने के बजाय बाधक होने का ही कार्य किया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रदर्शित इस अनुदारवादी के कारण ही समय–समय पर सर्वोच्च न्यायालय को पुनर्गठित करने और इसके अधिकारों को हस्तक्षेप कर जनहित में

फैसलो की सुनवाई की है।

निष्कर्ष

न्यायिक सक्रियता ऐसी प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत देश की न्यायपालिका सामाजिक और प्रशासनिक गतिविधियों को नियमित करने में शासन के अन्य अंगों विधानमण्डल और कार्यपालिका से बढ़चढ़ कर भूमिका निभाने लगती हैं। पिछले कुछ दशकों में भारत के सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने देश की राजनीति प्रशासन और सामाजिक–आर्थिक जीवन में फैली हुई सुस्ती, भ्रष्टाचार और अन्याय के निवारण के लिए बहुत सारे निर्णय दिए हैं, जो न्यायिक सक्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है, न्यायिक सक्रियता की आलोचना इस आधार पर कि जाती है कि जब न्यायपालिका बहुत सारे मामलों को विनियमित करने लगती है। तो इससे देश में विधि के शासन को धक्का पहुँचता है। कुछ भी हो जब शासन के अन्य अंग निष्क्रिय हो जाए या अन्याय को बढ़ावा देने लगे तब न्यायपालिका की सक्रियता हो जाए या अन्याय को बढ़ावा देने लगे तब न्यायपालिका की सक्रियता से ही किसी सुधार की आशा की जाती है। आए दिन तरह–तरह के याचिकाकर्ता जनहित मुकदमें के नाम पर छोटी–छोटी बातों को लेकर उच्च न्यायालय में पहुच जाते हैं, जिनमें कोई सार तत्व नहीं पाया जाता। इस तरह वे न्यायालय के कार्यभार को अकारण बढ़ा देते हैं। इन आपत्तियों के उत्तर में यह दिया जाता है कि न्यायिक सक्रियता के माध्यम से कोई युगान्तकारी निर्णय भी सामने आए हैं।

न्यायिक सक्रियता से सम्बन्धित प्रमुख वाद

1. **आगरा प्रोटेक्शन होम केस :** आगरा प्रोटेक्शन होम केस में लगभग 70–80 लड़किया रहती थी। इन लड़कियों के बोर में इण्डियन एक्सप्रेस अखबार में यह खबर छपी कि उनके साथ मानवीय स्तर का व्यवहार नहीं हो रहा।
2. **बिहार (भागलपुर) जेल के विचाराधीन कैदियों का मामला :** इस मामले की शुरूआत पुलिस आयोग के सदस्य के0एस0 रूस्तमजी द्वारा इण्डिन एक्सप्रेस में लिखे गये एक लेख से हुई, इस लेख में (उन्होंने कैदियों के नाम दिये जिन्हें जेल में पांच साल से अधिक समय बिताते हुये) लिखा कि बिहार की जेलों में सैकड़ों कैदी सड़ रहे हैं, यह मामले वर्षों से विचाराधीन पड़े हैं। इस याचिका के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय सक्रिय हो गया और न्यायिक सक्रियता का परिचय दिया।
3. **बम्बई के पटरीवासियों का मामला :** यह मामला भी सार्वजनिक हित संरक्षण से सम्बन्धित है। मुख्य न्यायधीश के सामने एक पत्रकार ओल्गा तेलिस ने बम्बई के पटरीवासियों का मामला उठाया और न्यायालय ने अन्तिम आदेश जारी करके पतरीवासियों की सुरक्षा का इन्तजाम किया।
4. **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन :** इस मामले में एक आजीवन कारावास का दण्ड भुगत रहे कैदी के साथ जेल वार्डन द्वारा क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार एक दूसरे कैदी ने पत्र द्वारा न्यायालय को इस अमानवीय घटना की सूचना भेजी।

5. **चमारो का केस :** सर्वोच्च न्यायालय समाज के दुर्बल वर्गों की सुरक्षा के लिए कितनी जागरूक है। यह मामला उत्तर प्रदेश की कतिपय जिले के चमारों का है। इस मुकदमे से पता चलता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने समाज के दुर्बल वर्गों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति का पता लगाने के लिए नयी प्रणाली की षुरूआत की। राज्य सरकारों ने न्यायालय से कहा कि वह अपने सहकारी विभाग को निर्देश दे कि वह चमारों को सहकारी संघ में संगठित करके उनमें ठेका लेने की सामर्थ विकसित करें ताकि बाह्य व्यक्तियों के बजाय वे स्वयं ठेका ले सके।

6. **गरीबी में मुफ्त खाद्यान्न वितरण :** 12 अगसत 2010 को उच्चतम न्यायालय ने सरकारी गोदामों में खाद्यान्न के सड़ने सम्बन्धित खबरों की संज्ञा लेते हुए अपने आदेश में कहा कि खाद्यान्न को सड़ने देने की बजाय गीरबो में निःशुल्क बाट देना चाहिए। इत्यादि मामले न्यायपालिका द्वारा सुनवाई का उद्देश्य सामाजिक न्याय है जो जनहित को ध्यान में रखकर सुनवाई की गई।

संदर्भ ग्रंथ

1 त्रिपाठी प्रदीप, *''मानवाधिकार और भारतीय संविधान'*, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ0सं0–**14**

2 शर्मा, डा0 प्रभुदत्त, ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'', कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, पृ0सं0–**24**

3 उपरोक्त, पृ0सं0–**25**

4 उपरोक्त, पृ0सं0–**30**

5 उपरोक्त, पृ0सं0–192

6 सूद ज्योति प्रसाद, *'आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास'*, भाग–3, के0 नाथ एण्ड कं0, मेरठ, पृ0सं0–**104**

7 गाबा, ओम प्रकाश, ''राजनीतिक विज्ञान विश्वकोष'', मयूर बुक्स, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2008, पृ0सं0–**208**

8 उपरोक्त, पृ0सं0–**398**

9 गाबा, ओम प्रकाश, *'राजनीतिक विज्ञान विश्वकोष'*, पृ0सं0–**393**

10 उपरोक्त, पृ0सं0–**394**

11 उपरोक्त, पृ0सं0–**395**

12 उपरोक्त, पृ0सं0–**360**

13 त्रिपाठी प्रदीप, *''मानव अधिकार और भारतीय संविधान'*, राधा पब्लिकेशन, पृ0सं0–**84**

14 मेहता, अशोक कुमार एवं पीकॉक आलिव, *''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'*, अरिहन्त पब्लिकेशन हाउस, जयपुर, पृ0सं0–**36**

15 बनर्जी, ए0सी0, *''भारत का संविधानिक इतिहास''*, नई दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेशन, 1982

16 त्रिपाठी प्रदीप, *''मानव अधिकार और भारतीय संविधान''*,

17 बसु, डी0डी0, *''इन्ट्रोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया'',* प्रिन्टिस हॉल, नई दिल्ली, 1978, पृ0सं0—**133**

18 उपरोक्त, पृ0सं0—**134**

19 ए0आई0आर0, 1952, SC, 123

20 ए0आई0आर0, 1952, इलाहाबाद, 746

21 ए0आई0आर0, मद्रास, 83

22 ए0आई0आर0, SC, 1208

23 ए0आई0आर0, 1950, SC, 56

24 ए0आई0आर0, 1954, SC, 561

25 बसु डी0डी0, *'इन्ट्रोडक्शन टू द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया,* नई दिल्ली, पृ0सं0—**133**

26 ए0आई0आर0, 1994, SC, 321

27 ए0आई0आर0, 1967, जम्मू कश्मीर, 120

28 ए0आई0आर0, 1952, मद्रास, 529

29 ए0आई0आर0, 1951, SC, 226

30 ए0आई0आर0, 1976, SC, 736

31 ए0आई0आर0, 1981, SC, 2045

32 सईद, एस0एम0, *'भारतीय राजनीतिक व्यवस्था'*, भारत बुक सेन्टर।

33 मेहता, अशोक कुमार एवं पीकॉक, अलिव, *''भारतीय राजनीतिक व्यवस्था''*, अरिहन्त पब्लिकेषन हाउस, जयपुर, पृ0सं0—**36**

34 पाण्डेय, नारायण जय प्रकाश, *''भारत का संविधान'',* सेन्ट्रल लॉ ऐजेन्सी, इलाहाबाद प्रकाशन, 2006, पृ0सं0—**136**

35 उपरोक्त

36 पराजपे, डा0 विनय, *''लोकहितवाद विधिक सहायता एवं सेवाओं, लोक अदालतो तथा पैरालीगल सेवाओ,* सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी।

37 भाटिया, एच0एस0, *''पॉलिटिकल लीगल एण्ड मिनिस्ट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'',* दिल्ली दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, 1984

38 गांगुली, वी0के0, *''आस्पेक्ट ऑफ एनसिपन्ट इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन'',* अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 1982